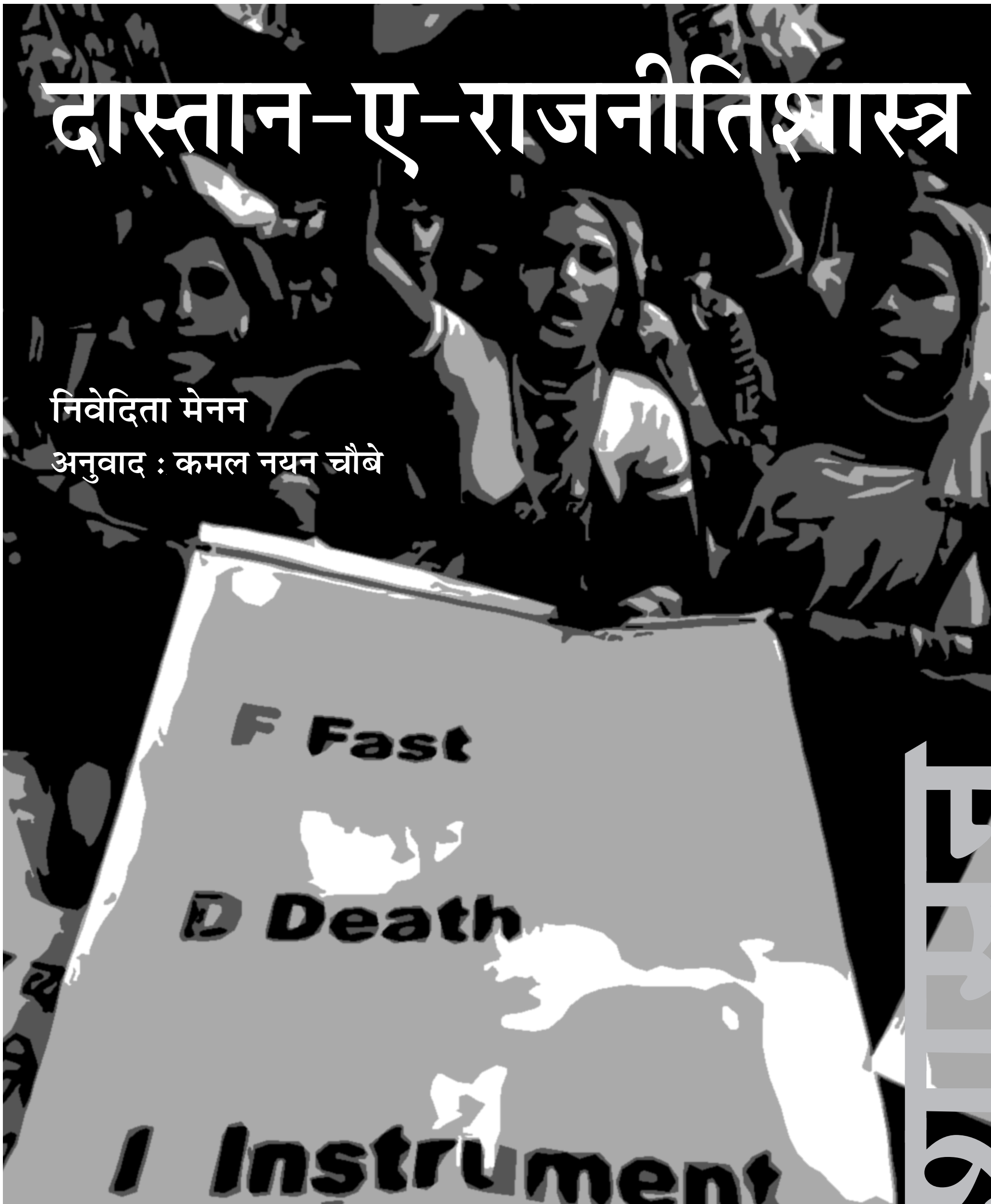
दास्तान-ए-राजनीतिशास्त्र

निवेदिता मेनन

अनुवाद : कमल नयन चौबे



राजनीतिशास्त्र के बारे में बर्टेल ऑलमैन ने सन् 2000 में एक लेख लिखा था। दुर्भाग्य से भारत में राजनीतिशास्त्र के अनुशासन की स्थिति पर उनकी ये बातें एकदम फ़िट बैठती हैं :

> राजनीतिशास्त्र पाँच मिथकों से संचालित होता है : पहला, यह राजनीति का अध्ययन करता है; दूसरा, इसका स्वरूप वैज्ञानिक है; तीसरा, राजनीति का अध्ययन अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान और इतिहास को अलग हटा कर किया जा सकता है चौथा, हमारे लोकतांत्रिक पूँजीवादी समाज में राज्य राजनीतिक रूप से तटस्थ होता है अर्थात् वह चुनाव में जीत हासिल करने वाले हर दल

को संस्थाओं और तंत्रों के रूप में समान रूप से उपलब्ध रहता है; और पाँचवाँ, एक अनुशासन के रूप में राजनीतिशास्त्र लोकतंत्र को बढ़ावा देता है ...।

ऑलमैन के अनुसार इसी वज़ह से, 'ज़्यादातर दिलचस्प सवाल वैज्ञानिक पड़ताल की ज़द से बाहर ही रह जाते हैं, और इसीलिए राजनीतिशास्त्र अमूमन स्नातक स्तर के छात्र-छात्राओं की जिज्ञासा के ख़िलाफ़ एक शाश्वत शत्रु की तरह आचरण करता रहता है।' छात्र-छात्राओं की जिज्ञासा के ख़िलाफ़ चलने वाले इस अंतहीन युद्ध की हम जैसे लोग आज भी निशानदेही कर सकते हैं। भारत में राजनीति विज्ञान के अनुशासन को हम जिस रूप में जानते हैं, वह दो क्षेत्रों में बँटा हुआ है :

पहला क्षेत्र है राजनीतिक सिद्धांत का। राजनीतिक सिद्धांत बुनियादी रूप से एक ऐसा अनुशासन है जिसका विकास पश्चिमी अकादमिक जगत में हुआ है तथा जिसमें स्वतंत्रता, समानता, न्याय और लोकतंत्र आदि जैसी मानकीय अवधारणाओं के सूक्ष्म अध्ययन और इन अवधारणाओं से जुड़े यूनानी दार्शनिकों और पश्चिम के समकालीन चिंतकों जैसे जॉन रॉल्स तथा माइकिल वॉल्ज़र आदि के विमर्श की पड़ताल की जाती है। 1990 के दशक से इस फ़ेहरिस्त में सतही तौर पर भारतीय चिंतकों के नाम भी जोड़े जाने लगे हैं। मसलन, अब स्वतंत्रता की विवेचना के एक खण्ड में गाँधी के स्वराज का विचार या आज़ादी के संबंध में अमर्त्य सेन की अवधारणा को नत्थी किया जाने लगा है।

राजनीतिक सिद्धांत के इस क्षेत्र में एक और विषय को शामिल किया जाता है जिसे राजनीतिक चिंतन कहा जाता है। उत्तर-औपनिवेशिक आलोचनाशास्त्र से सूत्र उठा कर कहें तो राजनीतिक चिंतन प्लेटो से शुरू होकर मार्क्स पर ख़त्म होने वाले आठ ऐसे गौरांग और पुरुष दार्शनिकों का चिंतन है जो बहुत पहले दिवंगत हो चुके हैं। नब्बे के दशक में जब इस क्षेत्र का भारतीयकरण किया गया और भारतीय राजनीतिक चिंतन के शीर्षक के तहत अलग पाठ्यक्रम तैयार किया गया तो उसमें भी राष्ट्रवादी काल और मुख्यत: हिंदू और ऊँची जाति से ताल्लुक़ रखने वाले छह दिवंगत भूरे पुरुषों के नाम जोड़ दिये गये। इन नामों में केवल दो अपवाद हैं : एक भीमराव आम्बेडकर, जिनकी न केवल उनके बौद्धिक पराक्रम और राजनीतिक योगदान को देखते हुए उपेक्षा नहीं की जा सकती, बल्कि उन्हें इसलिए भी ख़ारिज नहीं किया जा सकता क्योंकि नवें दशक के बाद भारत में दलितों का एक सशक्त और मुखर आंदोलन उठ खड़ा हुआ है। इसमें दूसरा अपवाद मुहम्मद इक़बाल हैं, जिनकी उपस्थिति इस पाठ्यक्रम में स्पष्ट रूप से एक ग़ैर (भारतीय) राष्ट्रवादी 'अन्य' के रूप में है।

अध्ययन के दूसरे क्षेत्र को मोटे तौर पर भारतीय राजनीति कहा जाता है, जिसमें विभिन्न संस्थाओं और औपचारिक राजनीति की प्रक्रियाओं का अध्ययन किया जाता है। जैसे, पार्टियाँ और चुनाव। आमतौर पर इस क्षेत्र को राजनीतिक सिद्धांत से असम्पृक्त माना जाता है। सच यह है कि भारतीय राजनीति के इस विषय को ज़्यादातर लोग 'सेफ़ोलॉजी' यानी चुनावों के सांख्यिकीय ब्योरों के अध्ययन का पर्याय ही मानते हैं। वैसे भी चुनावी नतीजों की भविष्यवाणी का काम क्रिकेट के बाद हमारे देश में मनोरंजन का दूसरा सबसे बड़ा स्रोत है।

दरअसल, राजनीतिशास्त्र प्रक्रिया/विचार, राजनीति/लोक नीति, घरेलू राजनीति/विदेश नीति, दलीय राजनीति/आंदोलन की राजनीति जैसे सकर्मक और बौद्धिक प्रश्नाकुलता से आवेशित युग्म-पदों पर ग़ौर करने में कोई दिलचस्पी नहीं दिखाता। हालाँकि सत्ता और उसके क्रियाकलाप राजनीतिशास्त्र के मर्म में होने चाहिए, लेकिन मुख्यधारा के अनुशासन में ऐसे मसलों पर विचार करने की जगह ही नहीं रह गयी है जो यह पूछते हों कि सत्ता और ज्ञान की व्यवस्थाओं का अंतर्गुम्फन हमारी इयत्ता और हमारी पहचान की धारणा को किस तरह गढ़ता है और किस तरह यह तय कर देता है कि भौतिक व सांस्कृतिक संसाधनों की व्यवस्था में हमारी औक़ात क्या होगी। लिहाज़ा ऐसे में अगर कोई छात्र आत्मघाती हमले जैसी परिघटना का अध्ययन करना चाहे तो उसका विभाग बड़ी हैरत से यह सवाल पूछेगा कि 'आत्मघाती हमले में भला कौन सी चीज़ राजनीतिक है? इसका

अध्ययन तो समाजशास्त्रियों को करना चाहिए।' यह है इक्कीसवीं सदी के भारतीय राजनीतिशास्त्र की कहानी।

एक विद्यार्थी और शिक्षक के नाते राजनीतिशास्त्र के साथ मैं पिछले तीस सालों से जुड़ी हुई हूँ। कई सारे अर्थों में मैं अभी भी एक विद्यार्थी ही हूँ। लेकिन इस विषय को लेकर मैं उसी दिन से असहज महसूस करने लगी थी जब आठवें दशक के आख़िर में बाक़ायदा अध्यापक बनने के बाद मैंने पाया कि सत्ता के वास्तविक चरित्र से जुड़ी कोई भी महत्त्वपूर्ण बात कक्षा के भीतर नहीं आती। अस्सी के दशक के आख़िरी वर्षों से लेकर नब्बे के दशक तक भारत में एक मुखर महिला आंदोलन का उभार हुआ। इन वर्षों के दौरान यह आंदोलन वामपंथी दलों की पितृसत्तात्मक छाया से बाहर निकला और उसने महिलाओं की सेक्शुअलिटी, सेक्शुअल हिंसा और पितृसत्ता की उन संरचनाओं पर ज़रूरी सवाल खड़े किये जिनका वर्ग की अवधारणा से कुछ लेना-देना नहीं था।

उन्हीं दिनों मेरी राजनीतिक दृष्टि राजनीतिक संघर्ष के जिस अन्य पहलू से प्रभावित हुई वह थी नेहरूवादी दृष्टिकोण के इर्द-गिर्द रची गयी आम सहमति की नाकामी। इस आम सहमति के तहत विकास की एक ख़ास क़िस्म वैध मान ली गयी थी और राष्ट्रीय हितों के नाम पर स्थानीय विशिष्ट हितों को उसी में स्वाहा कर दिया गया था। ज़ाहिर है कि यह राष्ट्रीय हित कुछ प्रभुत्वशाली समूहों का निजी हित ही था। बड़े बाँधों के ख़िलाफ़ लम्बे समय तक चलने वाले आंदोलनों ने राष्ट्रीय हित के इस विचार को पहली बार पटकनी दी। इस आंदोलन के सूत्रधार वे लोग थे जिन्हें उनकी ज़मीन और जीविका से सिर्फ़ इसलिए वंचित कर दिया गया था ताकि कुछ शहरों में मुट्ठी भर लोग बिजली का मनमाना इस्तेमाल कर सकें। ऐसे आंदोलनों को विकास-विरोधी और इसी नाते राष्ट्र-विरोधी घोषित कर दिया गया। इस उथल-पुथल के बीच मेरे सामने एक के बाद एक यह साफ़ होने लगा था कि पितृसत्ता, वर्ग आधारित राज्य, और रोज़मर्रा के जीवन में जाति के बारे में कोई भी वास्तविक सवाल उठाने के लिए मुझे अपने अनुशासन से बाहर देखना होगा।

नब्बे के दशक में धीरे-धीरे यह बात भी बिल्कुल स्पष्ट हो गयी कि जिसे 'भारतीय राजनीति' कहा जा सकता है, उसके अहम सवालों पर राजनीतिशास्त्र के अलावा बाक़ी सभी अनुशासनों में गहराई से विचार किया जा रहा है। मसलन, अगर हम 'मंदिर-मण्डल-मार्केट' मुद्दा देखें तो उस समय इतिहासकार बाबरी मस्जिद के विध्वंस के लिए ज़िम्मेदार हिंदू-राष्ट्रवाद और दक्षिणपंथी गोलबंदी की पड़ताल कर रहे थे; समाजशास्त्री जाति की संरचनाओं, गोलबंदी तथा जाति आधारित भेदभाव के बारे में लिख रहे थे; और अर्थशास्त्री आर्थिक समायोजन और उदारीकरण के नये दौर को क़लमबंद कर रहे थे। ये सारे समकालीन राजनीति के ज्वलंत मुद्दे थे पर हमारा अनुशासन इनके बारे में बिल्कुल ख़ामोश था।

यही कारण था कि मेरे शोध संबंधी सवाल एक अन्यायी और शोषणकारी यथास्थितिवाद के ख़िलाफ़ खड़े हो रहे संघर्षों तथा उनमें मेरी निजी रुचि और थोड़ी-बहुत भागीदारी से उपज रहे थे। मेरी ख़ुशकिस्मती थी कि भारत में पहले से ही एक नारीवादी विद्वत्ता मौजूद थी, जो नारीवाद की परिवर्तनकारी राजनीति और नारीवादी अकादमिक व्यवहार के बीच न केवल ज़मीन तैयार कर चुकी थी, बल्कि एक-दूसरे का हाथ थाम कर आगे बढ़ रही थी। विद्वत्ता की यह धारा अपनी बनावट में ही अंत:अनुशासनात्मक थी, क्योंकि बीसवीं सदी के भारत में सती-प्रथा या कन्या भ्रूण-हत्या जैसी चीज़ों को समझने के लिए स्वाभाविक रूप से इतिहास, राजनीतिक अर्थशास्त्र, राजकीय नीति और समाजशास्त्र जैसे अनुशासनों के बीच आवाजाही करना ज़रूरी हो गया था। इन व्यापक घटनाक्रमों में मैं भी हिस्सेदार थी और अपने अनुशासनों की चौहद्दियों में रह कर हम सभी अपने-अपने अनुशासनों के पूर्व-निर्धारित दायरों पर चोट कर है थें। हमारी तरह आज की युवतर नारीवादियों को अनुशासनीय इलाक़ों में सीमा की हिफ़ाज़त करने में लगी गश्ती पुलिस, ख़ास तौर पर राजनीतिशास्त्र के सबसे

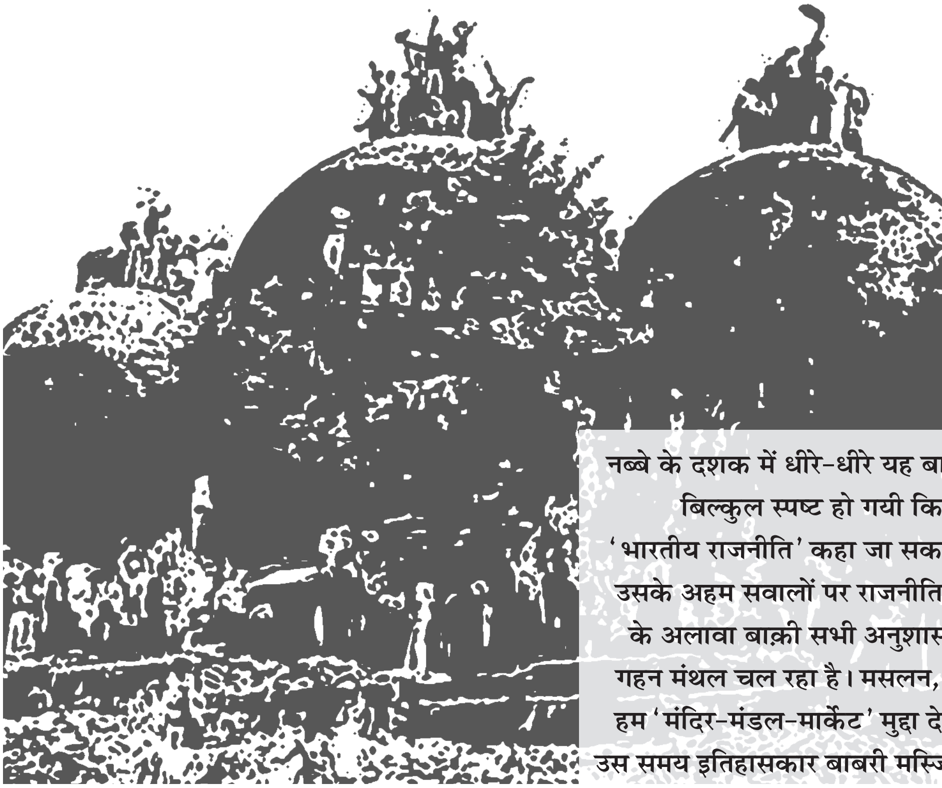
ज़्यादा अड़ियल अर्ध-सैनिक बलों से आज भी जूझना पड़ता है।

एक अनुशासन के रूप में राजनीतिशास्त्र की स्थिति क्या हो गयी है-इसकी चिंता से संबंधित चिंताओं में बहुत से दूसरे लोग भी करते हैं। इसे केवल नारीवादियों का फ़ितूर समझने की ग़लती नहीं की जानी चाहिए। एनसीईआरटी की पाठ्य पुस्तकों के पुनर्मूल्यांकन के बहाने हममें से कई सारे लोग इस अनुशासन को पुनर्कल्पित करने के काम में लगे हुए थे। उस परियोजना की सफलता ने स्कूली शिक्षा पूरी करने वाले बच्चों में इस अनुशासन के प्रति एक ख़ास ललक पैदा कर दी थी। लेकिन इन बच्चों के उत्साह को धक्का तब लगा जब उन्होंने स्नातक स्तर पर एक विषय के रूप में राजनीतिशास्त्र का चयन किया। राजनीतिशास्त्र के अध्यापन और शोधकर्म में सक्रिय हम जैसे कई लोग एक बौद्धिक परियोजना पर काम कर रहे हैं, जिसे हमने 'क्रिटिकल स्टडीज़ इन पॉलिटिक्स' का शीर्षक दिया है। इस परियोजना के तहत संयुक्त रूप से प्रतिपादित कुछ विचारों को साझा करना आवश्यक है। इस लेख के अगले भाग में अनुशासन की अपेक्षित पद्धतियों के सवाल पर विचार किया जाएगा जिसका अधिकांश भाग एक सद्यःप्रकाशित किताब की प्रस्तावना से लिया गया है जिसे संजय पलशीकर, आदित्य निगम और मैंने संयुक्त रूप से लिखा है।

पहले स्थिति यह थी कि इस अनुशासन में आमतौर पर 'राजनीति' को राज्य और औपचारिक राजनीतिक संस्थाओं का पर्यायवाची माना जाता था। लेकिन धीरे-धीरे आंदोलनों और विचारधाराओं के प्रवेश के कारण इसका दायरा बढ़ने लगा। नारीवाद, पर्यावरणवाद और दलित आंदोलन ने राजनीति के विचार की हदों को इस क़दर फ़ैला दिया है कि राजनीतिक की परिभाषा ही बदल गयी है। आज वह हर स्थान राजनीतिक के दायरे में आने लगा है जहाँ सत्ता को प्रश्नांकित किया जाता है और संसाधनों व अर्थ के नियंत्रण को दुबारा निर्धारित करने का मंसूबा दिखाई देता है। इस प्रक्रिया में प्रतिबद्ध लेखन और विद्वत्ता की एक ऐसी मुक़म्मल धारा उभरी है जो राजनीतिक आंदोलनों से क़दम मिला कर चलती है और जिसे निपट राजनीतिक कहा जा सकता है।

अनुशासनों के गठन या उनके निर्माण को दो बेहद विशिष्ट बातों के संबंध में देखा जा सकता है : पहला, अनुशासन अपना लक्ष्य किस तरह गढ़ते हैं; और दूसरा, वे अपने पद्धतिशास्त्रीय दृष्टिकोण को किस तरह परिभाषित करते हैं (अभिलेखागार, फ़ील्डवर्क/नृजातिवर्णन, सर्वेक्षण आदि)। पिछली सदी में लम्बे अरसे तक यह सोच प्रबल रहा कि राजनीतिशास्त्र का लक्ष्य 'राजनीति' नाम की एक शै है, जिसके अपने नियम हैं और जो सामाजिक जीवन के दूसरे दायरों से पूरी तरह अलग होता है। राजनीतिशास्त्र का पूरी तरह प्रत्यक्षवादी और वैज्ञानिक प्रोजेक्ट इसी मान्यता पर आधारित था— इसीलिए उसे राजनीति के 'विज्ञान' की तरह देखने का आग्रह किया गया। लेकिन इस समझ को ख़ुद अनुशासन के भीतर से ही चुनौती मिलने लगी। हालाँकि यह आग्रह बाद के दशकों में भी छिटपुट ढंग से क़ायम रहा, लेकिन अब यह बात पूरी तरह से स्पष्ट हो चुकी है कि राजनीतिक अध्ययन के इस अनुशासन को अब लक्ष्य के संदर्भ और अध्ययन-पद्धति के आधार पर उस तरह कल्पित नहीं किया जा सकता जैसा कि सातवें दशक के शुरुआती काल में किया जाता था।

पहले स्थिति यह थी कि इस अनुशासन में आमतौर पर 'राजनीति' को राज्य और औपचारिक राजनीतिक संस्थाओं का पर्यायवाची माना जाता था। लेकिन धीरे-धीरे आंदोलनों और विचारधाराओं के प्रवेश के कारण इसका दायरा बढ़ने लगा। नारीवाद, पर्यावरणवाद और दलित आंदोलन ने राजनीति के विचार की हदों को इस क़दर फ़ैला दिया है कि राजनीतिक की परिभाषा ही बदल गयी है। आज वह हर स्थान राजनीतिक के दायरे में आने लगा है जहाँ सत्ता को प्रश्नांकित किया जाता है और संसाधनों व अर्थ के नियंत्रण को दुबारा निर्धारित करने का मंसूबा दिखाई देता है। इस प्रक्रिया में



नब्बे के दशक में धीरे-धीरे यह बात भी बिल्कुल स्पष्ट हो गयी कि जिसे 'भारतीय राजनीति' कहा जा सकता है, उसके अहम सवालों पर राजनीतिशास्त्र के अलावा बाक़ी सभी अनुशासनों में गहन मंथल चल रहा है। मसलन, अगर हम 'मंदिर-मंडल-मार्केट' मुद्दा देखें तो उस समय इतिहासकार बाबरी मस्जिद के विध्वंस के लिए ज़िम्मेदार हिंदू-राष्ट्रवाद और दक्षिणपंथी गोलबंदी की पड़ताल कर रहे थे; समाजशास्त्री जाति की संरचनाओं, गोलबंदी तथा जाति आधारित भेदभाव के बारे में लिख रहे थे; और अर्थशास्त्री आर्थिक समायोजन और उदारीकरण के नये दौर को क़लमबंद कर रहे थे। ये सब समकालीन राजनीति के ज्वलंत मुद्दे थे पर हमारा अनुशासन इनके बारे में बिल्कुल ख़ामोश था।

प्रतिबद्ध लेखन और विद्वत्ता की एक ऐसी मुक़म्मल धारा उभरी है जो राजनीतिक आंदोलनों से क़दम मिला कर चलती है और जिसे निपट राजनीतिक कहा जा सकता है। पर इसका राजनीतिशास्त्र या राजनीतिक अध्ययन से कोई ख़ास लेना-देना नहीं है। लेकिन यदि राजनीति करने से लोक / 'द पब्लिक' का निर्माण होता है, और राजनीति का मक़सद सत्ता को प्रश्नांकित करना होता है तो फिर यह साफ़ है कि हमारे अध्ययन के विषयों या उनकी पद्धतियों को अनुशासन विशेष के खाँचों में सीमित नहीं किया जा सकता। अब सिर्फ़ इतिहासकार ही अभिलेखागारों का उपयोग नहीं करते या वे केवल अभिलेखागारों तक ही सीमित नहीं रहते। इसी तरह यह बात भी सच नहीं है कि मानवशास्त्रीय फ़ील्ड-वर्क सिर्फ़ मानवशास्त्री ही करते हैं या सिर्फ़ साहित्यिक विद्वान ही लक्षण-विज्ञान और पाठ आधारित व्याख्या करते हैं। इसलिए, उदाहरण के तौर पर, यदि राजनीतिशास्त्री राष्ट्रवाद या दलित राजनीति का गम्भीर अध्ययन करना चाहते हैं तो उन्हें अभिलेखागार के स्रोतों, ऐतिहासिक लेखन, आत्मकथाओं और संस्मरणों,

साहित्यिक ग्रंथों, भाषणों, मौखिक इतिहास आदि पर नज़र डालनी होगी और विभिन्न प्रकार की पद्धतियों के बीच समन्वय करना होगा। सबॉल्टर्न स्टडीज़ (निम्नवर्गीय प्रसंग) के प्रकाशन के बाद यह बात भी स्पष्ट हो चुकी है कि अभिलेखागार से हमारा संबंध इतना मासूमियत भरा नहीं होता है, जितना पहले माना जाता था। हम जब भी अभिलेखागार के दस्तावेज़ या चिट्ठियाँ पढ़ते हैं तो हमें बहुत सी व्याख्यात्मक रणनीतियों का उपयोग करना पड़ता है। ठीक इसी तरह, राजनीतिक भाषण पढ़ते वक़्त हमें शब्दों से ज़्यादा शब्दाडम्बर और शारीरिक हाव-भाव से लेकर लोगों की प्रतिक्रिया और सम्बोधन की शैली आदि पर ध्यान केंद्रित करना पड़ता है।

इसलिए हम एक स्तर पर संस्कृति-अध्ययन के उन तरीक़ों का एहतराम करते हैं जिनके ज़रिये उन्होंने नस्ल और जेंडर की राजनीति को अनावृत / 'डिकोड' करके राजनीति में अर्थ की ग्राह्यता की ओर ध्यान दिलाया। उन्होंने इस बात को भी रेखांकित किया कि राजनीति के अध्ययन के तरीक़ों का विस्तार किया जाना चाहिए। दरअसल, जैसे ही हम पद्धति के बारे में गम्भीरता से सोचना शुरू करते हैं, वैसे ही यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अंत में 'आँकड़ों को एकत्रित करना एक कला है— एक ऐसी कला जो यह बताती है कि सूचना/आँकड़ा/प्रमाण खोजने का सबसे अच्छा तरीक़ा क्या होता है। यह एक ऐसा खेल है जो दो तरह की निजताओं/आत्मनिष्ठताओं के बीच खेला जाता है— 'शोधकर्त्ता' की निजता/आत्मनिष्ठता और 'सूचनादाता' की निजता/आत्मनिष्ठता। वास्तव में, इन दोनों के अपने अलग मक़सद हो सकते हैं, और अमूमन होते ही हैं। आँकड़े एकत्रित करने के अपने जिस सबसे 'वैज्ञानिकतावादी' तरीक़े को हम इतनी तवज्ज़ो देते हैं उसका भी एक ख़ास पहलू ऐसी युक्तियों को तलाशना होता है जिनके ज़रिये उस संसार तक पहुँचा जा सके जो हमें सीधे दिखाई नहीं पड़ता। इसलिए ज़्यादातर मौक़ों पर हमें ऐसी कल्पना का सहारा लेना पड़ता है, जिसे हम किसी किताब या वैज्ञानिक पद्धति से नहीं सीख सकते।'

'क्रिटिकल स्टडीज़ इन पॉलिटिक्स' की परियोजना में योगदान करने वाले पंद्रह लेखकों ने अनुशासन में पहले से परिभाषित चीजों पर विचार करने के बजाय किसी समकालीन गुत्थी या समस्या पर ध्यान केंद्रित करते हुए उन सारे तरीक़ों को इस्तेमाल करने की कोशिश की है ताकि उनकी मदद से इस मसले की सबसे सार्थक व्याख्या की जा सके। चूँकि अध्ययन का लक्ष्य केवल राजनीतिशास्त्र के अनुशासन की 'राजनीति' को नहीं बनाया गया, इसलिए इसमें सिर्फ़ अनुशासन के पारम्परिक स्रोतों का प्रयोग नहीं किया गया है, बल्कि ऐतिहासिक और समकालीन अभिलेखागार के विविध रूपों, अध्ययन के स्पेस के भौतिक मापन, आत्मकथात्मक विवरण, मानचित्र, चित्र, पुराण सरीखे 'पवित्र' ग्रंथ— जैसे किसी भी ऐसे स्रोत या प्रणाली के उपयोग को सही माना गया है, जो अध्ययन के केंद्रीय सवाल और उससे जुड़े अन्य सवालों को अभिव्यक्त करने या उन्हें सुलझाने में मदद करे।

लेकिन हमें 'अंतर' और 'बहु' अनुशासनीयता की अवधारणाओं से आगे जाने, अनुशासन के क्षेत्रों को तोड़ने और उन्हें नये सिरे से बनाने की आवश्यकता है। मसलन, 'अंतर-अनुशासनीयता' अभी भी यह मानती है कि आर्थिक और राजनीतिक के बीच एक सुनिश्चित अंतर होता है। अंतर-अनुशासनीय अंत:क्रिया में एक अनुशासन की पूर्ण जानकारी के लिए दूसरे अनुशासन पर भी ध्यान दिया जाता है। बहरहाल, ग़ैर-अनुशासनीयता स्थापित अनुशासनों की दरारों पर क़ब्ज़ा करने और इस तरह उन्हें विखण्डित करने की ओर संकेत करती है।

आज जब पश्चिम का बौद्धिक वर्चस्व ढीला पड़ने लगा है तो हमारे सामने एक चुनौती यह खड़ी हो गयी है कि एक संदर्भ में पैदा हुए 'सिद्धांत' को दूसरे संदर्भ के व्यवहार को समझने का पैमाना बनाने वाली दृष्टि का क्या किया जाए। यह सिद्धांत इस धारणा पर टिका है कि 'राजनीतिक व्यवहार' 'ग़ैर-सैद्धांतिक' होता है। इसमें किसी तरह की तार्किक-सैद्धांतिक अंतर्वस्तु नहीं होती, इसलिए (पश्चिम के) किसी भी सिद्धांत को आधार बना कर किसी भी स्थान के राजनीतिक व्यवहार

को समझा जा सकता है। लेकिन यह बात सच्चाई से कोसों दूर है। हम मानते हैं कि हर तरह का राजनीतिक व्यवहार किसी न किसी सैद्धांतिक या ग़ैर-सैद्धांतिक सोच या चिंतन से निर्मित होता है। और आज इस बात को हम ज़्यादा शिद्दत से महसूस करने लगे हैं कि सिद्धांतीकरण के कम से कम एक हिस्से को व्यवहार की समझ विकसित करने पर ज़ोर देना चाहिए। इसके लिए व्यक्ति के संसार और उसकी वैचारिक श्रेणियों पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए।

इस बात का ख़याल तब भी रखा जाना चाहिए जब हम अपने अनुशासन की अपेक्षाकृत मानकीय अवधारणाओं (जैसे 'राज्य', 'लोकतंत्र' या 'विकास') आदि पर विचार कर रहे हों। यह इसलिए ज़रूरी है क्योंकि ग़ैर-युरोपीय परम्पराओं का नया बौद्धिक और अवधारणामूलक इतिहास यह दर्शाता है कि इन श्रेणियों को अलग-अलग ढंग से कल्पित किया गया है। मसलन, हाल के कुछ अध्ययनों से यह बात सामने आयी है कि भारतीय परम्परा में राजनीतिक शक्ति/सत्ता का सिद्धांतीकरण काफ़ी अलग तरीके से किया गया था : समाज में यह सत्ता कभी 'सम्प्रभु' नहीं मानी गयी थी। इस दृष्टिकोण



परिवर्तनकारी अकादमिक व्यवहार को उत्तर-राष्ट्रीयता (पोस्ट-नैशनल) पर ज़ोर देना चाहिए। यहाँ उत्तर-राष्ट्रीय को राष्ट्र के पश्चात् वाले अर्थ में न समझ कर, राष्ट्र से गुज़र कर बनने वाले भाव के रूप में देखा जाना चाहिए। 'उत्तर-राष्ट्रीय' शब्द का प्रयोग करने के पीछे मेरा मंतव्य यह है कि हमें राष्ट्र-राज्य को अलग-अलग तरीक़ों से चुनौती देने वाली विद्वत्ता का भी उपयोग करना चाहिए और उसके परे जाने पर भी विचार करना चाहिए।

के अनुसार, सम्प्रभुता हमेशा एक उच्चतर व्यवस्था या नियम अर्थात् धर्म से जुड़ी हुई थी। हमारे पास इन विविध इतिहासों को अनावृत करने वाला बहुत सा विद्वत्तापूर्ण काम पहले से ही मौजूद है— लेकिन यह समस्त कृतित्व दूसरे अनुशासनों की थाती है। इसलिए जब हम राजनीतिक के विविधवर्णी इतिहासों और सिद्धांत पर विचार करते हैं तो वह हमारे चिंतन में शामिल नहीं हो पाता। लिहाज़ा यह अलग से कहने की जरूरत नहीं है कि ऐसी किसी भी कोशिश को ऐतिहासिक अध्ययन, दर्शन और जिसे हम ढीले-ढाले अर्थ में 'धर्म' कहते हैं, पर ध्यान देना होगा और साथ ही भारतीय, अरबी, फ़ारसी और चीनी दर्शन और इतिहास का गहराई से अध्ययन करना होगा।

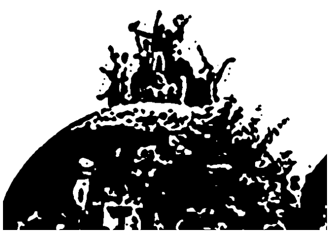
यहाँ मैं 'लोकेशन' के महत्त्व पर भी ज़ोर देना चाहूँगी। पर 'लोकेशन' से मेरा अर्थ पश्चिम की तुलना में देशज या प्रामाणिक होना नहीं है। इसके बजाय, 'लोकेशन' के द्वारा मैं दिक्-काल / व्यक्ति के माहौल की उस भौतिकता की ओर इंगित करना चाहती हूँ जो हर सिद्धांतीकरण का अनिवार्य हिस्सा होती है। मुझे लगता है कि लोकेशन की सजगता सार्वभौमवादी श्रेणियों की थोथी शुद्धता का परिष्कार करती है और उनकी इस हनक को भी चुनौती देती है कि उन्हें कहीं भी स्थित हुए बिना सबके बारे में बोलने का हक़ है। लिहाज़ा इस अर्थ में शोध का सवाल शोधकर्ता की अपनी 'लोकेशन' से उभरना चाहिए। यानी शोधकर्ता की जिज्ञासा या प्रश्न उसके परिचित संसार की गुत्थियों से वाबस्ता होने चाहिए।

राजनीतिशास्त्र की इस चर्चा के बाद अब मैं कुछ 'भारत' के बारे में कहूँगी। मेरा आग्रह है कि हमें इस भू-भाग को, जिसे हम भारत कहते हैं, पूर्व-प्रदत्त मानने की धारणा से लगातार ज़िरह करनी

चाहिए। हमें इसके एक एकीकृत स्थान होने तथा इसके राष्ट्र-राज्य को मुक्तिकारी स्थान मानने के विचार को भी प्रश्नांकित करना चाहिए।

राष्ट्र की आधारशिला इतरलैंगिक पितृसत्तात्मक परिवार है जो असल में एक ऐसा बंदोबस्त है जिसने पहचान, सम्पत्ति के स्वामित्व तथा संसाधनों के अन्यायपूर्ण और असमान रूपों को सामान्य स्थिति का जामा पहना दिया है। अट्ठारहवीं सदी के बाद से ही राष्ट्र-राज्य की कहानी एक वीर-गाथा के रूप में प्रस्तुत की जाती रही है। इसमें यह बताया जाता रहा है कि वह निरंकुशता के ख़िलाफ़ संघर्ष है और नागरिकता के सीमांतों के विस्तार का प्रतीक है। इस आख्यान में बंद गलियों, टूटन, हाशियाकरण और लोगों को ख़ामोश कर दिये जाने की हक़ीक़तों को छुपा दिया गया है। ये हक़ीक़तें नागरिक-पहचान का अभिन्न अंग रही हैं। दरअसल, राष्ट्र सिर्फ़ प्रभुत्वशाली, बहुसंख्यावादी मूल्यों का प्रतिनिधित्व कर सकता है। 'अपनी' संस्कृति का दावा करने वाले अल्पसंख्यक कभी भी वैध रूप से राष्ट्र के प्रतिनिधित्व का दावा नहीं कर सकते— ये अल्पसंख्यक भारत में मुसलमान हो सकते हैं या फिर संयुक्त राज्य अमेरिका में भारतीय। इसके अलावा, नागरिकता के संबंध में सेकुलर राज्य भी इसी तरह के ग़ैर-लोकतांत्रिक उपाय अपनाता है।

भारत के संदर्भ में भी सेकुलरवादी विमर्श विकास की उस अवधारणा का हमराह रहा है जो भारतीय नागरिक के बृहत्तर हित के लिए छोटे समूहों के हितों की क़ुर्बानी देने की बात करती है।



राष्ट्र सिर्फ़ प्रभुत्वशाली, बहुसंख्यावादी मूल्यों का प्रतिनिधित्व कर सकता है। 'अपनी' संस्कृति का दावा करने वाले अल्पसंख्यक कभी भी वैध रूप से राष्ट्र के प्रतिनिधित्व का दावा नहीं कर सकते— ये अल्पसंख्यक भारत में मुसलमान हो सकते हैं या फिर संयुक्त राज्य अमेरिका में भारतीय।

लोकतांत्रिक राजनीति में विश्वास करने वाले हम जैसे लोग इस बात की उपेक्षा नहीं कर सकते कि राष्ट्र का निर्माण तर्कपरक हिंसा की पूर्वपीठिका पर हुआ है। साथ ही हम इस तथ्य के प्रति भी अ-संवेदनशील नहीं हो सकते कि राष्ट्र का वर्चस्ववादी विमर्श दमन का सहारा लेकर और लघु-पहचानों को ख़ारिज करके आगे बढ़ा है। राष्ट्रवाद की कोई भी परियोजना कभी 'पूरी' नहीं होती, क्योंकि दमनकारी तंत्र हिंसा के प्रयोग को जायज़ ठहरा कर इस परियोजना को किसी न किसी बिंदु पर निरस्त कर देता है और इसी तरह की आकांक्षा रखने वाली दूसरी आवाज़ों और पहचानों को आगे बढ़ने से रोक दिया जाता है।

इसलिए आज परिवर्तनकारी अकादमिक व्यवहार को उत्तर-राष्ट्रीयता (पोस्ट-नैशनल) पर ज़ोर देना चाहिए। यहाँ उत्तर-राष्ट्रीय को राष्ट्र के पश्चात् वाले अर्थ में न समझ कर, राष्ट्र से गुज़र कर बनने वाले भाव के रूप में देखा जाना चाहिए। यह विचार नया नहीं है कि यदि संस्थाओं को स्थायी रूप से क़ायम रखना है तो राष्ट्र-राज्य अनिवार्य है। इसलिए 'उत्तर-राष्ट्रीय' शब्द का प्रयोग करने के पीछे मेरा मंतव्य यह है कि हमें राष्ट्र-राज्य को अलग-अलग तरीक़ों से चुनौती देने वाली विद्वत्ता का भी उपयोग करना चाहिए और उससे परे जाने पर भी विचार करना चाहिए। ऐसा लगता है कि समकालीन समय में कॉरपोरेट भूमंडलीकरण के बारे में सिर्फ़ दो तरह की प्रतिक्रियाएँ दी जा सकती हैं : पहली यह कि साम्राज्य के ख़िलाफ़ राष्ट्र-राज्य की अभ्यर्थना करते हुए उसके पुराने प्राधिकार को मज़बूत किया जाए; या दूसरी तरफ़ यह मान लिया जाए कि राष्ट्र-राज्य ख़त्म हो रहा है, इसलिए वैश्वीकरण का जश्न मनाया जाए। लेकिन ये दोनों ही प्रतिक्रियाएँ पूरी तरह ग़लत हैं।

इसीलिए यहाँ राष्ट्र की बेबाक समीक्षा पर मेरा आग्रह उत्तर-राष्ट्रवाद के उस तर्क से कतई उलट है जो इसे ऊपर से थोपना चाहता है और इसके पक्ष में दो विपरीत विचारों अर्थात् राष्ट्र की सम्प्रभुता को वैश्विक पूँजी के हित में दरकिनार कर देने या फिर हैबरमास के वैश्विक सार्वभौमवाद का सहारा लेना चाहता है। इसके बजाय मैं जिस उत्तर-राष्ट्रवाद की बात कर रही हूँ उसका वर्णन 'ज़मीनी स्तर से उत्तर-राष्ट्रवाद' के रूप में किया जा सकता है। इसकी राजनीति का प्रतिनिधित्व कोई भी ऐसा विचार कर सकता है, जो विकास, सेक्शुअलिटी, जाति/समुदाय, नस्ल या अन्य किसी भी तरह के वर्चस्व का विरोध करता हो। लेकिन इसे दो आयामों के रूप में देखा जाना चाहिए : पहला, राष्ट्र से 'ऊपर', राष्ट्रीय सीमाओं के बीच और दूसरा, राष्ट्र के 'अंदर', 'व्यापक' राष्ट्रीय पहचान में समावेशन के ख़िलाफ़। आख़िर परमाणु विरोधी आंदोलन की कहानी 'राष्ट्र के ऊपर' (या राष्ट्र से परे) पूरे दक्षिण एशिया के आंदोलन के रूप में ही बयान की जा सकती है। इसी तरह, आदिवासियों और खेतिहर समुदायों द्वारा भूमि अधिग्रहण के प्रतिरोध यानी उनके इस तर्क को कि उनकी दुनिया और समय का राष्ट्र और इतिहास के वर्चस्वशाली आख़्यानों से मेल नहीं बैठता, 'राष्ट्र के अंदर' ही समझा जा सकता है।

इसलिए हम जो कहानी कहना चाह रहे हैं, वह भारत नाम के पद से बड़ी भी होगी और छोटी भी। भले ही कहानी को इस तरह कहने से हम एक विशाल और सुसंगत पृष्ठभूमि से वंचित हो जाएँ और हमारे पास भारत के वर्तमान इतिहास का एक खण्डित आख्यान ही रह जाए। इसलिए शायद मैं यह कहना चाह रही हूँ कि भारत में राजनीतिशास्त्र को पढ़ने-लिखने का नैतिक रूप से सही तरीक़ा यह है कि एक अनुशासन के रूप में राजनीतिशास्त्र को और अध्ययन की वस्तु के रूप में भारत को रैडिकल तरीक़े से अस्थिर करने की आवश्यकता है।